Artistic Narration: *A Peer Reviewed Journal of Visual & Performing Art* **ISSN (P): 0976-7444 (e): 2395-7247**
Vol. VIII. 2016 **IMPACT Factor - 3.9651**

भारतीय कला इतिहास में राजस्थानी लोक कला

डॉ० रीता सिंह
PDFWM (U.G.C)
ललित कला विभाग,
मेरठ कॉलिज, मेरठ

सभी कलाओं की नीव या जड़ आदिम युग से जुड़ी हुई है। आदि मानव के साथ धर्म का जो स्वरूप खड़ा हुआ है वह मानव की सृजन प्रक्रिया का कलात्मक पक्ष माना गया। प्रकृति एवं देवी शक्ति के रूप में अपनायी गई मान्यताएँ रीति–रिवाजों में परिवर्तित होती चली गई जिससे अनुष्ठानपरक कलाओं का विकास हुआ और ये लोक कला में महत्वपूर्ण भूमिका रखते है।

पौराणिक काल से अब तक मनाव ने अपना समय व्यतीत करने एवं मनोरंजन करने का कोई न कोई साधन सदैव ही खोजा है। संगीत, काव्य, शिकार या चित्रण आदि माध्यमों द्वारा मानव अपना मनोरंजन सदैव से ही करता रहा है।

भारतीयों का जीवन–दर्शन लोक कल्याण लोक वैभव और लोक चेतना को प्रस्तुत करता है। लोक जीवन विस्मृति और आत्मसुख का एक मात्र साधन है। अतः इसकी परिलक्षणा का स्वरूप लोक कला है। इस लोक कला का उचित असाधारण एवं असामान्य मान्यताओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। अतः यह कला का वह सामाजिक स्वरूप होता है कि जिसमें परम्परागत संस्कार और धार्मिक आदर्श सरलता से व्यक्त होते है। इस मत से डॉ० कॉरल सौत भी सहमत है। अतः लोक कला का मानव जीवन के इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हैं इसका विकास एवं पतन मानस के साथ ही हुआ है।

जो कला जनमानस से जुड़ा हो, वह लोक कला ही है। जन–मानस की यह कला खासकर हमारे देहात की कला ही समझी गई है। इस कला को सही–सही समझने के लिए हमें अपनी अतीत की संस्कृति में झाँकना पड़ेगा। संस्कृति के विषय में कला विद्वान "डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा" जी का कथन है कि–"संस्कृति व सम्पदा है जो प्रकृति की अनन्त सम्भावनाओं से मानव ने अर्जित की है। कला इसी कमाई गई संपदा की सुन्दर–मधुर निधि है" साधारण शब्दों में लोक–कलाएँ हमारे देहात के जनमानस के तमाम परम्परागत तथा कलात्मक कार्य है जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी हमारे समाज में विभिन्न रूपों में आज भी जिन्दा है। किसी समय की लोक कला अपने युग की सभ्यता का प्रतीक होती है। लोक कला की परम्परा प्राचीन काल से ही भारत में दिखाई पड़ती है।

लोक चित्र विशेषकर भारत में पर्व के अवसरों पर दीवारों पर एवं आँगनों में बनाए जाते है। दीवरों पर बने चित्रों को "थापा" एवं आँगनों में बने चित्रों को रंगोली कहा जाता है। अलग–अलग अवसरों पर अलग–अलग "रंगोली" एवं "थापा" बनाये जाते है, जिनके द्वारा हम भारत की विभिन्न संस्कृतियों, जातियों एवं लोकाचार का पता लगाते है।

राजपूत राज्यों के संयोजन से बना राजपूताना बाद में राजस्थान कहलाया। अपने सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा एवं संवर्धन करने में राजपूतों का इतिहास में एक विशिष्ट स्थान माना जाता है। राजस्थान की लोक संस्कृति विश्व में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। अपनी भारतीय संस्कृति में उत्सव, शौर्य, कलाप्रियता, धर्म, श्रृंगार एवं अध्यात्म व्यक्ति को बहुत गहराई तक प्रभावित करते रहे है।

राजस्थान में घरों की दीवारों पर घोड़ा, तलवार, कदली, चक्र, सारस, हाथी, कमल, अंलकरण इत्यादि के चित्रों को बनाने का प्रचलन है। "जनमानस के मनोरंजन के लिए अन्यान्य साधनों के अन्तर्गत पर्व और उत्सव का महत्वपूर्ण स्थान है। समाज को भविष्य के प्रति आशावन बनाने में पर्वो और उत्सवों तथा त्यौहारों का स्थान

उल्लेखनीय है। भारतीय पर्व जीवन के अमृत उत्सव है। पर्व ही जीवन में आनन्द का उल्लास भरते हैं। आलोच्य काव्य में हिंडोला, रक्षाबंबधन, दशहरा, दीपावली, भैय्यादूज, गोवर्धन पूजा, बसंत पंचमी, होली आदि उत्सवों की चर्चा में ब्रज की रीतियाँ, हास–विलास, क्रीडाएँ, उल्लास–आनन्द, धर्म, भावनाएँ आदि का पूरा–पूरा समावेश हुआ है। पुष्टिमार्गीय कवियों ने त्यौहारों का वर्णन श्री कृष्ण को माध्यम बनाकर किया

हैं इनमें लोक की प्रसन्नता व उमंग छलक कर बाहर तक आ गई है।" यही लोककला की छलकती हुई रसधारा राजस्थानी चित्रों के साथ–साथ धर्म व रीति रिवाजों में भी छलकती है। जिसकी राजस्थानी लोक कला में स्पष्ट छाप दिखाई देती है।

राजस्थान में स्त्रियों के हाथों एवं पैरों में मेंहदी लगाने की प्रथा है। मेंहदी के साथ–साथ यहाँ पर गोदने की प्रथा भी है। जिसमें स्त्रियाँ या पुरुष अपने शारीरिक अंगो (चेहरे, हाथ–पैर) आदि पर नाम (ईश्वर का या अपना), अलंकरण आदि सुई के द्वारा गुदवाते है जो स्थायी रूप से बनता है।

राजस्थान में "सईया" का पर्व पन्द्रह दिनों तक चलता है, जिसमें कुँवारी कन्यायें प्रतिदिन भिन्न–भिन्न आकृतियाँ बनाती है, जो लोक कला का ही रूप है जिसके द्वारा बाल्यकाल से ही राजस्थान की नारियों में लोक कला के लिए आस्था जागृत हो जाती है।

राजस्थानी लोक कला एक परम्परा है। यह प्रतयेक परिवार की सम्पत्ति है जिसको धम्र, आचरण, संस्कार और अंधविश्वासों की अमिट और निश्चित परम्परा ने जकड़ रखा है। जिसके कारण उनके स्वरूप में परिवर्तन करने की स्थिति सरल नहीं है।

मंदना कला जो राजस्थान की धार्मिक लोकला के नाम से ज्यादा प्रसिद्ध है, देश के अन्य भागो–महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारत में इसे रंगोली तथा कोलम एवं बिहार एवं बंगाल में इसे अल्पना या अरिपन के नाम से जाना जाता है। मंदना राजस्थान की ग्रामीण महिलाओं की एक पारम्परिक कलात्मक क्षमता तथा मौलिक सोच का परिचायक है। इसके अध्ययन से इसके विभिन्न पहलू है। जैसे–लोगों के जीवन की कलात्मक पहलू परम्परा, धाार्मिक विश्वास तथा पारम्परिक इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। मंदना मूलतः वह कला है जिसे औरते फर्श, जमीन और दीवारों पर विभिन्न पर्वो, धार्मिक अनुष्ठानों, व्रत एवं अन्य उत्सवों में चित्रित करती है। यह राजस्थान की धार्मिक लोककला के नाम से ज्यादा प्रसिद्ध है। मंदना की सज्जा ज्यादातर वैश्य गृहों में पाई जाती हैं इसके बाद ब्राह्मणों में इसका प्रचलन है। अनेक वर्णों में भी इस कला को गृह सज्जा के लिए किया जाता है। राजस्थान में मंदना चित्रण के

लिए कच्ची सतह (फर्श, दीवार) को गोबर तथा मिट्टी से लेपा जाता है। मंदना मुख्यतः, खड़िया से निर्मित घोल से खींची जाती है। सम्पूर्ण आकृति इसी घोल से बनाई जाती है सिर्फ केन्द्रीय भाग को उज्जवलतम अंकन के लिए लाल गेरू रंग का प्रयोग किया जाता है। राजस्थान में सफेद तथा लाल रंगों का प्रयोग गोबर के साथ होता है।

धरातल का रंग तीन पर्वों के अनुसार बनाया जाता है। सर्दियों के लिए लाल, ग्रीष्मकाल में भूरे रंग तथा वर्षा ऋतु में हरी सतह का निर्माण किया जाता है। इन निर्मित सतहों पर महिलाए खड़िया घोल की सहायता से मंदना की आकृति बनाती है। मंदना की पारम्परिक आकृतियों में ज्यामितिय एवं पुष्प आकृतियों को लिया गया हैं इन आकृतियों में त्रिभुज, चतुर्भुज, वृत्त, स्वास्तिक,

शतरंज पट का आधार, कई सीधी रेखाएं, तरंग की आकृति आदि मुख्य है। ज्यामितिय आकृतियाँ मूलतः किसी मुख्य आकृति के चारो ओर बनाई जाती है। कुछ ज्यामितिय आकृतियों का रूप किसी देवी या देवता से जुड़े होते है। जैसे कि षष्टकोण जो दो त्रिभुज को जोड़कर बनाया जाता है, देवी लक्ष्मी को चिन्हित करता है। मंदना की यह आकृति काफी प्रसिद्ध है तथा इसे दीपावली, सर्दियों में फसल कटाई के समय उत्सव में बनाई जाती है।

लोक कला का उद्देश्य जीविकोपार्जन के लिए धन कमाना भी है। यह पक्ष लोक कला के शिल्प से जुड़े हुए कार्यों तक सीमित है जिसके द्वारा लोककला की बनायी हुई वस्तुओं का बाजारीकरण होता है और उन्हें बेचकर बनाने वाले को आर्थिक लाभ होता है। इस प्रकार की लोककला के उपादान प्रायः घरेलू होते हैं। त्यौहार, उत्सव, संस्कार, मेले और धार्मिक स्थलों पर पूजा–अर्चना की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा मनोविनोद अथवा अलंकरण के प्रयोजन हेतु मिट्टी के खिलौने, मूर्तियाँ, कण्डील, हाथ के बने–कढ़े हुए पंखे, चटाइयाँ, दरियाँ और अंलकरण से सम्बन्धित लकड़ी का सामान जो लोक कला के तत्वों से निर्मित होते है और जिनको लोक कलाकार ही बनाते है, जो परम्परागत पारिवारिक पृष्ठ भूमि में लोक कलाकार के रूप में उभरते है।

लोक कला में कोई आडम्बर नहीं होता है। उसके निर्माण के तत्व बड़े सरल होते है, उसकी विधि और माध्यम व्यक्तिगत और स्थानीय होते है उसमे विधान शिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं होती है। पारिवारिक परम्परा में वह क्रमशः बनाई जाती है और बुजुर्गो से बच्चे बनाते हुए देखकर ही उसको बनाना सीख लेते है। इस प्रकार लोककला एक वह प्रक्रिया है जो स्वतः संचालित व्यवस्था में जीवित रहती है और जिसको पीढ़ी दर पीढ़ी संचालित किया जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डा० रामकृष्ण शर्मा – अष्टछापेतर पुष्टिमार्गीय कवि : सिद्धान्त और साहित्य
2. डॉ० शैलिगृणा सामथ – भारतीय लोककला और जनकला
3. डॉ० सरन सक्सेना एवं सुधा सरन – कला सिद्धान्त और परम्परा
4. डॉ० एम.सी. वाकेट – फोक आर्ट
5. डॉ० कॉरल सौत– फोक आर्ट ऑफ इण्डिया एण्ड विलियर रूट
6. शेखरचन्द्र जोशी – चित्रकला एवं लोककला : विविध आयाम
7. डॉ० अन्नपूर्णा शुक्ला – किशनगढ़ चित्रशैली
8. डॉ० जयसिंह नीरज – राजस्थानी चित्रकला
9. डॉ० प्रीति अग्रवाल – राजस्थानी चित्रकला में लोक–कथाओं का चित्रण